- तृतीय सत्र -

मानव संस्कृति का एकात्म स्वरूप

पिछले सत्र में धर्म को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि वैदिक ऋषियों ने धर्म एवम् संस्कृति का ताना-बाना इस कुशलता से बुना है, कि इन दोनों को अलग-अलग करके पहचानना आसान कार्य नहीं है। फिर भी इस सत्र में भारतीय संस्कृति को अलग से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है।

संस्कृति का अर्थ है, मानव अथवा मानव समूह को एक विशेष प्रकार के संस्कारों से संस्कारित करना, ताकि उस समान विचारधारा वाले समूह के अनुयायियों में भ्रातृभाव एवम् एक-जुटता बनी रहे और उस संस्कृति के बाह्य एवम् वैचारिक दोनों स्वरूपों का स्थायी रूप से संरक्षण भी होता रहे।

विश्व मानव के विभिन्न स्वरूप

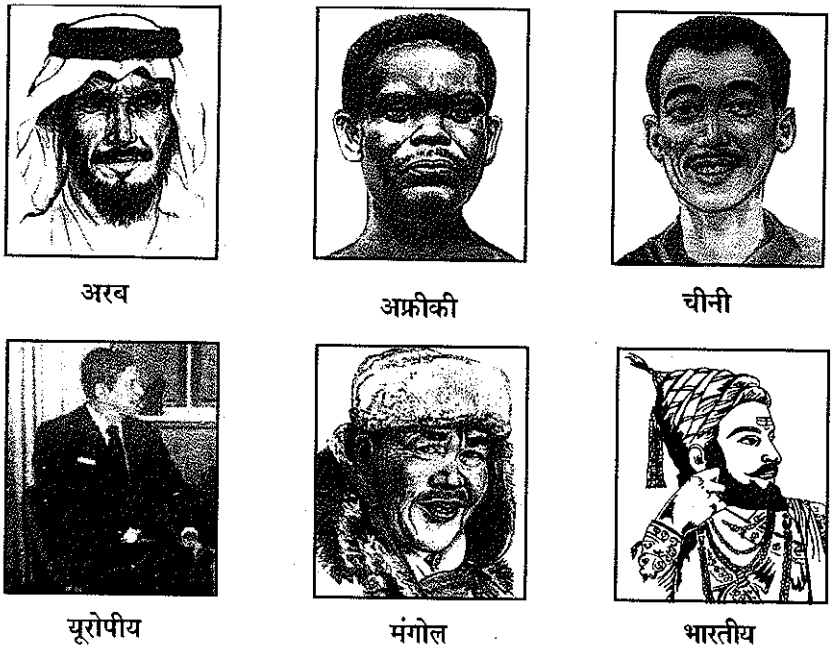

चित्र : 3.01

संस्कृति को दो भागों में बाँटकर देखा जा सकता है - *1.* बाह्य स्वरूप *2.* वैचारिक स्वरूप।

1. बाह्य स्वरूप :- संस्कृति के बाह्य स्वरूप के निर्माण में स्थानीय परिस्थितियों, जैसे - भौगोलिक स्थिति, जलवायु एवम् विश्व के अन्य भागों से उस काल के समाज का जुड़ाव आदि का

महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। मानवों की शक्ल-सूरत, नैन-नक्श भी स्थानीय भूगोल तथा जलवायु के अनुसार ही बनते हैं। जैसे - अरब, अफ्रीकी, चीनी, यूरोपीय, मंगोल एवम् भारतीय आदि प्रजातियों में भिन्नता देखी जाती है, उसी प्रकार से जीव-जन्तुओं एवम् पेड़-पौधों की प्रजातियों की भिन्नता भी जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थितियों की ही देन है। उपर्युक्त परिस्थितियों से उस समाज के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, आदतों आदि की परम्परा का निर्माण भी होता है। जिस प्रकार पहाड़ों पर अथवा बर्फीले, मैदानी अथवा मरुस्थलीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के मकानों का निर्माण स्थानीय भूगोल तथा जलवायु के अनुसार एवम् स्थानीय रूप से उपलब्ध सामान के आधार पर होता है, उसी प्रकार उनके खान-पान का तरीका भी मुख्यतः स्थानीय रूप से उत्पन्न एवम् उपलब्ध भोज्य पदार्थों पर आधारित होता है तथा उनके द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों एवम् आभूषणों का प्रचलन भी बहुत कुछ उपरोक्त परिस्थितियों के अनुसार होना स्वाभाविक है। आज पूरा विश्व एक परिवार का रूप लेता जा रहा है, अतएव सभी देशों के भवन निर्माण, खान-पान एवम् वस्त्र-आभूषण अथवा साजो-सज्जा सम्बन्धी कार्य एक जैसे होते जा रहे हैं; विशेषकर यूरोपीय भवन निर्माण कला का प्रचार-प्रसार पूरे विश्व में हो रहा है, जबकि भूतकाल में वास्तु-शास्त्र पर आधारित, यह विज्ञान सम्मत भवन निर्माण शैली भारतीयों द्वारा पूरे विश्व तक प्रचलित हुई थी, जिसे अब पुनः पश्चिमी जगत में धीरे-धीरे मान्यता मिल रही है। चीनी भवन-सज्जा फैंग सुई (Fang Sui) भी आजकल बहुत प्रचलित हो रही है।

2. वैचारिक स्वरूप :- वैचारिक स्वरूप में उस समाज द्वारा अपनाए जा रहे रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार एवम् जीवन-मूल्यों का समावेश होता है। परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव है, अतएव आमोद-प्रमोद और जीवन मूल्यों की समझ मानव के पास ही है, इसी कारण से सभी कालों में विश्व के किसी भी भाग में जो भी संस्कृति (सभ्यता) पनपी, उसके उत्थान और पतन में उस समाज की शैक्षिक योग्यता के अनुरूप विकसित वैचारिक समझ की ही मुख्य भूमिका रही है। जीवन मूल्यों अर्थात् मानव जीवन का उच्च से उच्चतम स्थिति तक विकास करने की समझ ही वह स्थायी कारण है, जो संस्कृति को चिरस्थायी तथा श्रेष्ठ बनाती है। इस सम्बन्ध में भूतकाल में केवल भारतीय मनीषियों ने अपने अथक प्रयासों द्वारा मानव के विकास की चरम स्थिति (मोक्ष) की खोज की थी और उसे व्यवहार में भी लाये थे।

''आत्मा अमर है, मानव शरीर नश्वर है, संसार मन में उत्पन्न होने वाला भ्रम है, मायाजाल है'' इत्यादि ऐसा महान ज्ञान ऋषियों ने भारतीयों के अवचेतन मन की गहराइयों तक उत्कीर्ण अर्थात् संस्कारित कर दिया था, अतएव उनमें अदम्य सहनशीलता, क्षमाशीलता, प्राणीमात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम एवम् **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** जैसे उच्चतम विचारों का विकास हुआ। इसके फलस्वरूप सहस्त्रों वर्षों के झंझावात के पश्चात् भी आज भारतीय संस्कृति सुरक्षित है, जबकि विश्व की अनेक संस्कृतियाँ अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् काल कवलित हो चुकी हैं। इन महान विचारों ने विश्व को भावनात्मक रूप से इतना आप्लावित कर दिया, कि इनकी सुगंध से ओत-प्रोत भारतीय संस्कृति विश्व में जब भी, जहाँ भी और जैसे भी पहुँची, कालान्तर में क्षेत्रीय परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाकर लोकप्रिय एवम् मनभावन बनी तथा उसी में घुल-मिल गयी। वे जीवन मूल्य आज भी विश्व मानवता के कल्याणार्थ चिरस्थायी प्रकाश स्तम्भ

के रूप में अपने दिव्य प्रकाश से विश्व को आलोकित करने को उद्यत हैं।

प्रकृति द्वारा आरती

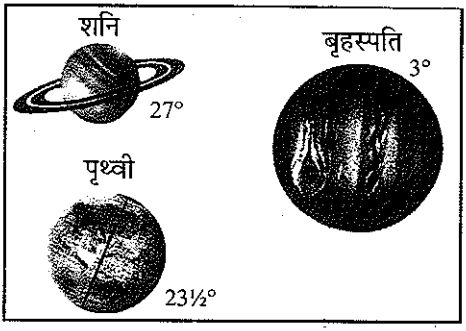

चित्र 3.02

भारतीय संस्कृति की मुख्य बात यह है, कि उसका बाह्य स्वरूप हो या वैचारिक स्वरूप, दोनों का आधार प्राकृतिक नियम एवम् प्रकृति का व्यवहार ही रहा है। *उदाहरणार्थ :-* पृथ्वी 23½° झुककर सूर्य की परिक्रमा करती है। जबकि शनि एवं बृहस्पति क्रमशः 27° और 3° झुककर सूर्य की प्रदक्षिणा करते है। इसी प्रकार सभी छोटी-बड़ी ज्योतियाँ अपने से बड़ी ज्योतियों की प्रणाम की मुद्रा में निरन्तर परिक्रमा करती हैं अर्थात् ***झुकना*** प्रणाम करने का प्रतीक है तथा ***परिक्रमा*** आरती करने का प्रतीक है, अतः प्रकृति में सर्वत्र आरती हो रही है। ***इसी को ध्यान में रखकर मन्दिरों में 'आरती' करने का विधान बनाया गया है अर्थात् भक्त 'आरती' करते समय यह कल्पना करे, कि उसकी छोटी आत्म-ज्योति परमात्मा की बड़ी महान ज्योति की परिक्रमा कर रही है। इस प्रकार आरती करते हुए ध्यान लगाने की एवम् ईश्वर से एकाकार होने की एक और सरल विधा का आविष्कार किया गया है।***

प्रकृति द्वारा पूजा

चित्र : 3.03

एक दो उदाहरण और लें। वृक्ष निरन्तर पुष्प और फल गिरा कर उस निराकार परमात्मा का यजन कर रहे हैं। जल-प्रपात अहर्निश अव्यक्त परमात्मा को अर्घ्य दे रहे हैं। शंकर जी का जलाभिषेक करना तथा सूर्य भगवान को अर्घ्य देना इन्हीं से ही सीख कर प्रचारित किए गये लगते हैं। प्रकृति के इसी व्यवहार को देखकर ही संस्कृति की सूची में सोलह प्रकार की पूजा विधि अपनायी गयी है। ***ग्रहों, पिण्डों, अणुओं, परमाणुओं*** की निरन्तर गतिशीलता के कारण महाकाश में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ, उत्पन्न हो रही हैं। मन्दिरों में शंख, भेरी, मृदंग एवम् घंटा ध्वनि आदि भी महाकाश में गुंजरित इन्हीं ध्वनियों को सुनकर ही प्रचारित की गयी हैं।

चन्द्रमा से पृथ्वी का निरीक्षण (सम्पूर्णता की दृष्टि)

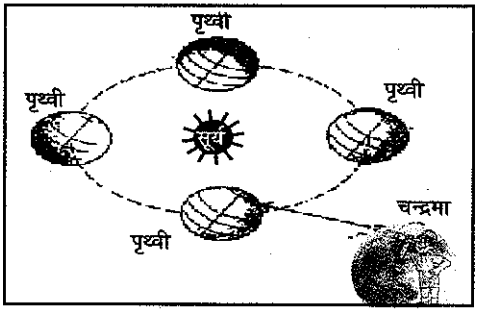

चित्र : 3.04

सम्पूर्णता की दृष्टि :- भारत के मनीषियों ने सृष्टि एवम् जीवन को बहुत निकट से परखा और समझा था, क्योंकि उनमें भविष्य को देख सकने की अपार क्षमता थी, अतएव उन्होंने हर सम्भव कोशिश करके मानव धर्म की रक्षा हेतु ठोस कवच के निर्माण का संकल्प लिया। सम्पूर्णता की सोच का एक उदाहरण प्रथम सत्र की चर्चा में दिया जा चुका है। इसी से सम्बन्धित एक और उदाहरण निम्न पंक्तियों में पुनः उद्धृत किया जा रहा है।

मान लीजिए, आप सबसे ऊपर वाली छत पर चढ़ कर एक वर्ग मील क्षेत्र को देख पाते हैं, तो टी.वी. टॉवर पर चढ़कर 10 वर्ग मील देख लेंगे, परन्तु 500 मील की ऊँचाई से हवाई जहाज पर चढ़कर सम्भव है, कि हम लोग दस हजार वर्ग मील का क्षेत्र देख पाएं। लेकिन यदि चन्द्रमा पर चले जायें, तो आप और हम पूरी पृथ्वी का निरीक्षण कर सकेंगे, तो यह हुई पूर्णता की दृष्टि। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय मनीषियों ने धर्म की रक्षा हेतु ऐसे कवच का निर्माण किया था, जैसे नारियल के मुलायम गूदे पर प्रकृति ठोस और कड़ा खोल बना देती है। ***इस खोल का ताना-बाना कुछ इस प्रकार बुना गया है, कि अधिकांश लोग 'संस्कृति' को ही 'धर्म' समझते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है, कि आम आदमी प्राकृतिक सिद्धान्तों (जैसे- चक्र, पुनर्जन्म एवम् कर्म आदि) तथा उससे विकसित धर्म लक्षणों (जैसे-सत्य, तप, दान आदि) से अनभिज्ञ रहता है और वह अपने जीवन में धर्म को धारण कर ही नहीं पाता।***

सतत् परिवर्तन होना सृष्टि का शाश्वत् नियम है, अतएव भारतीय मनीषियों ने मानव धर्म (प्राकृतिक सिद्धान्तों) पर भविष्य में होने वाले कुठाराघात का आकलन कर लिया था। ऋषियों का मत रहा है, कि कोई भी राष्ट्र तभी तक अखण्ड रह सकता है, जब तक कि उसकी चार बातें एक जैसी रहती हैं - ***(a) एक धर्म (b) एक संस्कृति (c) एक भाषा*** एदम् ***(d) एक विचार।*** इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सामूहिक वैचारिक एकात्मता हेतु अनेक उपाय किए थे। इस क्रम में मन्दिरों, तीर्थों, कुम्भ पर्वों, तीज-त्यौहारों, उत्सवों आदि की स्थापना करके उन्होंने एक समग्र संस्कृति का विकास किया था, ताकि मानव धर्म (प्राकृतिक सिद्धान्तों) की रक्षा होती रहे।

❖ सामूहिक एकात्मता में बाँधने वाले सूत्र :-

1. मन्दिर :- 'निर्गुण निराकार' उपासना की अपेक्षा 'सगुण साकार' उपासना पद्धति की श्रेष्ठता की स्थापना के साथ ही स्थान-स्थान पर देवताओं एवम् भगवान के प्रतीकों के मन्दिर बनाकर प्राण-प्रतिष्ठा की गयी और सामूहिक रूप से पूजा-अर्चना एवम् यज्ञकार्य सम्पादन किए जाने लगे। घंटा, शंख, भेरी आदि से मन्दिरों के वातावरण को पवित्र बनाया जाने लगा। वास्तु-कला के आधार पर निर्मित मन्दिर मन की शान्ति प्राप्ति स्थल बन गये,

दक्षिणेश्वर काली मन्दिर

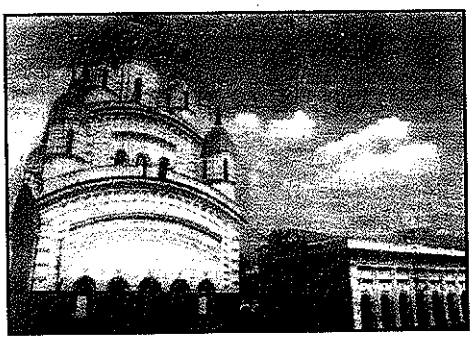

चित्र : 3.05

जहाँ पर जप, ध्यान आदि सोलह प्रकार की पूजा विधियों द्वारा वातावरण को भव्य और श्रेष्ठ बनाया गया। भारतीय समाज **'निर्गुण निराकार'** पद्धति को भी समान रूप से मान्यता देता है, परन्तु ***'सगुण साकार' पद्धति की सरलता के कारण उसे प्रथम स्थान दिया गया है।***

सामूहिक एकात्मता में बाँधने वाले स्थल

2. तीर्थ-स्थल :- पौराणिक कथाओं के आधार पर राजाओं द्वारा भव्य तीर्थस्थलों, जैसे - काशी, वृन्दावन, मथुरा, चारों-धाम और अनेक तीर्थों की स्थापना पूरे भारतीय समूह को एक स्थान पर एकत्रित करने के लिए करवायी गयी। कहते हैं, कि मथुरा, वृन्दावन धाम जैसे महान तीर्थ की पुनर्स्थापना लगभग चार सौ वर्ष पूर्व परमपूज्य चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गयी है। लगता है, कि यह तीर्थ विदेशी आक्रमणों तथा प्राकृतिक आपदाओं के कारण नष्ट-प्राय हो चुका था। सभी तीर्थ एवम् धाम प्राकृतिक एवम् मनोरम पर्वत श्रृंखलाओं, नदी-तटों अथवा सरोवरों व समुद्र तटों पर स्थापित किए गए। इस प्रकार साहसिक यात्राओं के माध्यम से मानव को ईश्वरीय आनन्द प्राप्त करने के साथ-साथ पूरे समाज की वैचारिक एकता का सुदृढ़ आधार प्रदान किया गया। कुम्भ पर्वों पर लाखों-करोड़ों लोग गंगा, यमुना, गोदावरी, क्षिप्रा नदियों में स्नान करने के बहाने तथा मेले का आनन्द लेते हुए वैचारिक एकता की कड़ी बने। पर्वों एवम् त्यौहारों की तिथियों के चयन के पीछे मानव मन पर ग्रहों तथा नक्षत्रों द्वारा पड़ने वाले क्षेत्रीय प्रभावों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। उन तिथियों में जप, उपवास, खान-पान, उत्सव मनाने के तौर-तरीकों आदि अनेक बातों में मानव हृदय को पवित्र तथा उल्लसित बनाए रखने की भावना निहित है। वर्ष में दो बार नवरात्रों (शक्ति-आराधना) का आयोजन देश के लगभग सभी भागों में विभिन्न रूपों में मनाया जाता है। इस आयोजन का उद्देश्य है, कि अति शीत तथा अति ताप के मौसम से पूर्व समाज का हर घटक अपनी प्राण-शक्ति को इतना सतेज बना ले, कि मौसम की विषमताओं को झेल सके, क्योंकि अलग-अलग ऋतुओं में मानव शरीर में वात, पित्त एवम् कफ की विषमता अनेक रोगों को उत्पन्न करती है। पूरे मानव समाज की रचना कुछ इस प्रकार की गयी, जिससे *हर मानव*

बद्रीधाम तीर्थ

चित्र : 3.06

कुम्भ मेला हर की पौढ़ी - हरिद्वार

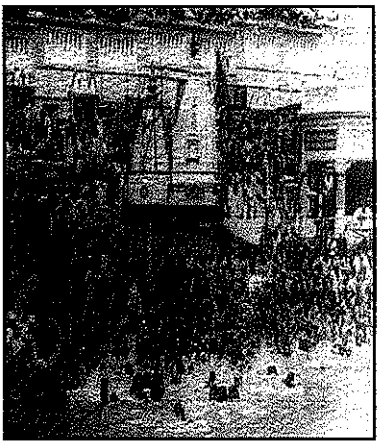

चित्र : 3.07

को जीवन के चरम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति हो सके।

अनेक तीज त्यौहारों, जैसे - श्रावणी, दशहरा, दीपावली एवम् होली तथा उत्सवों, जैसे - राम-जन्म, कृष्ण-जन्म, नवरात्र समारोह, रामलीलाएं, कृष्णलीलाएं, इन सभी के द्वारा आर्य धर्मियों ने अपनी सांस्कृतिक एकता को बनाए रखा और इस प्रकार धर्म की रक्षा होती रही। ***हर तीज त्यौहार को परमात्मा से जोड़ कर मनाने की विधा भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। सब कुछ परमात्मा का है, उसको भोगने से पहले उस जगत पिता को समर्पण करो। इसी श्रेष्ठ विचार को लेकर हर त्यौहार की रूपरेखा तैयार की गयी।*** उत्सव और त्यौहारों को नाट्य एवम् संगीत द्वारा सुन्दरता और रस से पूर्ण बनाने के भरसक प्रयास किए गए। होली का रंग भगवान श्रीकृष्ण के संग सभी गोप-गोपियों ने खेला, इसका आनन्द वही जान सकते हैं, *जिन्होंने ब्रज की होली में भाग लिया है।*

त्यौहारों (उत्सवों) द्वारा भाईचारा

चित्र : 3.08

नृत्य एवं संगीत द्वारा सामूहिक आनन्द

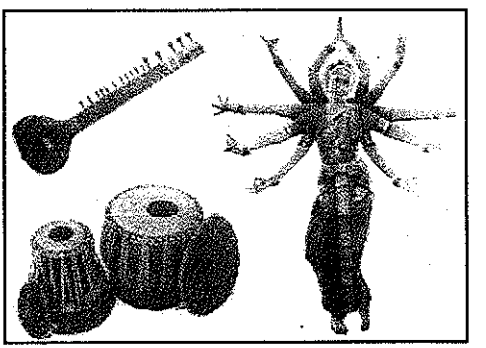

चित्र : 3.09

3.(a) वाद्य संगीत, नृत्य कला एवम् राग रागिनियाँ :- यह कला अपने आप में बहुत ही उच्च कोटि की कला है और इसकी साधना द्वारा मानव मन ईश्वर के बहुत निकट पहुँच जाता है। भारतीय कलाकारों ने तरह-तरह के वाद्यों तथा राग-रागिनियों का विकास किया, जो अपने आप में बड़े ही विस्तृत विषय बन कर समाज में सदियों से आनन्द बिखेरते आ रहे हैं। शास्त्रीय संगीत एवम् शास्त्रीय नृत्य, भारतीय कला की अभिव्यक्ति की उच्चतम सीमा हैं, जिसका विश्व में अब तक सानी नहीं है। ***शास्त्रीय संगीत मानव मन को ध्यान की गहराइयों तक पहुँचाने की श्रेष्ठ विधा है।***

3(b) वास्तु कला एवम् स्थापत्य कला :- वास्तु कला के अनुसार भवन निर्माण एवम् मूर्तियों का निर्माण भी ऐसी कलाएं सिद्ध हुईं, कि जिसने आम जनता को सिर पर छत देने एवम् रोजी-रोटी देने के अतिरिक्त उनकी भावनाओं को एकसूत्र में बाँधे रखने में बहुत सहायता की।

4. चित्रकला एवम् साहित्य लेखन :- उच्चकोटि की चित्रकारी अनेकानेक गुफाओं व मन्दिरों में प्रदर्शित की गयी, जिसके कारण पूरा समाज मन के स्तर पर एक सूत्र में बँधा रहा। काव्य, उपन्यास, शिक्षाप्रद पौराणिक कथाओं द्वारा आधिदैविक साहित्य का श्रेष्ठतम विकास हुआ। इन **'पौराणिक कथाओं'** द्वारा मात्र उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान ही जन-मानस को सुलभ नहीं कराया गया, बल्कि सत्र-दो में विस्तार से बतलाए गये प्रकृति के सिद्धान्तों का भी सरल से सरल भाषा में प्रतिपादन किया गया। पौराणिकों ने प्रतीकों की भाषा का प्रयोग किया है, जो सतही तौर पर तर्कहीन लगती है, परन्तु उनके अन्तर्निहित अर्थ गूढ़ हैं और आज उनके ठीक-ठीक अर्थ करने की परम आवश्यकता है।

चित्रकला द्वारा प्रकृति पूजा का आनन्द

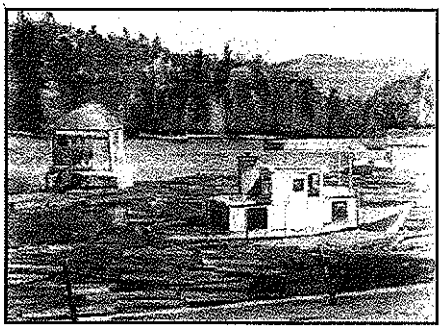

चित्र : 3.10

5. ज्योतिष एवम् आयुर्वेद :- इन दो महान विद्याओं की खोज भारतीय विद्वानों की श्रेष्ठतम खोज है। ज्योतिष शास्त्र सृष्टि की रचना, विकास एवम् विनाश की सम्पूर्ण जानकारी से भरपूर है। वर्तमान, भूत एवम् भविष्य के रहस्यों को जानकर ऋषियों ने भारत को ही नहीं, अपितु विश्व को भी महान चमत्कारिक ज्ञान दिया है। भृगु संहिता में दी गयी अनन्त मानवों के भावी जीवन सम्बन्धी ज्ञान को पढ़कर भारतीय ऋषियों की श्रेष्ठतम वैज्ञानिक सूझ-बूझ को कोई भी पाठक नत-मस्तक हुए बिना रह ही नहीं सकता। विश्व स्तर पर इस प्रकार की खोज अब तक ज्ञात नहीं है।

आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति को अब पश्चिमी जगत भी मानने लगा है। यह पद्धति निरापद है तथा प्रकृति के सिद्धान्तों पर आधारित है। रसायन शास्त्र में भी भारतीयों ने महारथ प्राप्त की थी।

विभिन्न भारतीय परिधान

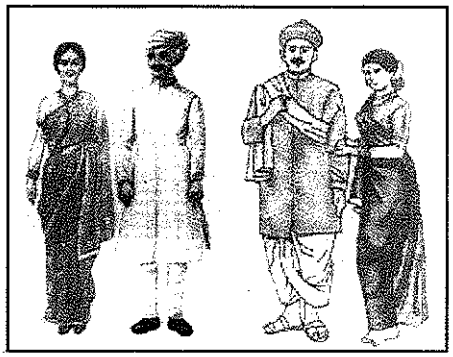

चित्र : 3.11

6. विभिन्न परिधान :- देश, काल, ऋतुओं, सौम्यता व आकर्षण इन गुणों से भरपूर भारतीय परिधानों का आविष्कार ऋषियों द्वारा किया गया था। स्त्रियोचित सौम्यता बनाए रखते हुए परिधान 'साड़ी' और लहँगा भारतीय मनीषियों की सर्वश्रेष्ठ सोच का परिणाम है। पुरुषों के वस्त्रों का मौसम, उपयोगिता, कार्यक्षेत्र, आयु आदि के अनुसार निर्माण किया गया। अति चुस्त वस्त्रों को प्रधानता नहीं दी गयी। मुख्य उद्देश्य था, प्रकृति के अधिक से अधिक निकट बने रहने का प्रयास; परन्तु क्षत्रिय के वस्त्रों को उसकी आवश्यकतानुसार चुस्त बनाना आवश्यक था।

भारतीय वस्त्रों को आज पूरे विश्व में पसन्द किया जाता है। इन परिधानों को बनाने में सूत और रेशम के भारतीय धागे विश्व विख्यात रहे हैं तथा मशीनों के आविष्कार से पूर्व भारत विश्व में कपड़ा उद्योग में सर्वश्रेष्ठ था।

प्रकृति में हर फूल अपने सौन्दर्य और पराग की गन्ध से भौंरों को स्वतः ही अपनी ओर खींच लेता है, तब ऐसा प्रकृति की योजनानुसार होता है, ताकि फूलों की सेचन क्रिया हो और पौधों की संतति में वृद्धि हो। इसी प्रकार हर बालिका अपने सौन्दर्य से पुरुष वर्ग को आकर्षित करती है। यह आकर्षण पूर्णतः प्रकृति की देन है। इसे रोका जाना सम्भव नहीं है। प्रकृति में सर्वत्र पेड़-पौधों से लेकर पशुओं तक मुक्त साहचर्य द्वारा संतति उत्पन्न हो रही है। मानव में गोत्र परम्परा द्वारा नियन्त्रित साहचर्य का विधान इसलिए बनाया गया है, जिससे पशु प्रवृत्ति वाली संतान उत्पन्न न हो, बल्कि श्रेष्ठ विचारों वाली संतान ही उत्पन्न हो। आज पशु प्रवृत्ति वाली संतान ही उत्पन्न हो रही है क्योंकि चारों ओर संचार माध्यमों (मीडिया) द्वारा कामोद्दीपक विचारों/चित्रों के प्रचार-प्रसार की भरमार है। इनके प्रभाव के कारण स्त्री एवम् पुरुष वर्ग पूर्ण रूप से पश्चिम प्रभावित, कामुक एवम् भड़काऊ परिधान पहिन कर लगभग निर्वस्त्र और उन्मुक्तापूर्वक चारों ओर घूमता-फिरता है, फिर कौन-सा नौजवान होगा, जो अपने मन पर काबू रख सकेगा, इसीलिए बलात्कार, हत्याएं आदि असामाजिक घटनाओं की असाधारण वृद्धि हो रही है।

समाधान :- आवश्यकता इस बात की है, कि अश्लील विज्ञापनों, कामुकतापूर्ण विचारों के प्रचार-प्रसार एवम् पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित भड़काऊ वस्त्रों एवम् चेष्टाओं पर अंकुश लगाया जाये तथा शालीन और सौम्य भारतीय परिधानों का प्रयोग किया जाये। इस सुधार के पश्चात् भी यदि कोई वर्ग दुष्कर्म करता है तब उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जाये, तभी समस्या का समाधान होगा। चारित्रिक प्रदूषण इतना बढ़ गया है, कि पूरा समाज इस प्रदूषण से ग्रसित हो रहा है तथा स्थिति तेजी से विस्फोटक बनती जा रही है। ज्ञान का अर्थ है नियमबद्धता। नियमानुसार न चलना अज्ञान है। इस अज्ञानता के दुष्परिणाम अत्यन्त भयावह हैं। इस क्षेत्र में धर्म गुरु ही समाज की संकल्प शक्ति को दृढ़ कर सकते हैं। ऐसा नहीं है, कि इस प्रकार की घटनायें भूतकाल में नहीं होती थीं, परन्तु वे नगर से बाहर लाल डोरा क्षेत्र तक सीमित कर दी जाती थीं। ***कन्याओं के पूजन करने की प्रथा और भाई-बहिन का रक्षा सूत्र (राखी) बाँधने की सामाजिक रीति को जोर-शोरों से स्कूल व कॉलेजों तक प्रचारित करने से इस दुष्कर्म पर काबू पाया जा सकता है।*** कन्याओं के पूजन का अर्थ है, कि बालक उन कन्याओं में देवी के स्वरूप की भावना करें तथा कन्याओं को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए, कि वे भी अपने हाव-भाव, रहन-सहन एवम् भावना द्वारा दैवीय गुणों का विकास करें। इस प्रकार की अनैतिक क्रिया-कलापों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी होने वाले दुष्परिणामों की उन्हें विस्तार से सीख दी जानी चाहिए।

7. जीवन जीने की वैज्ञानिक विधि :-

सोलह संस्कार :- मानव जीवन अनमोल है। ऋषियों द्वारा इसे वैज्ञानिक विधि से उत्पन्न किए जाने का विधान बनाया गया और पूरे जीवन को इस प्रकार संचालित करने के नियम बनाये गये, जिससे पूरे समाज को 'मोक्ष' जैसी महानतम स्थिति की प्राप्ति हो सके

और जीव का सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा हो जाए।

सोलह संस्कारों की अति संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार से है -

(i) गर्भाधान :- शुभ नक्षत्र से युक्त तिथि को रात्रि के दूसरे पहर में पति-पत्नी को पूरे मनोयोग के साथ समागम करना चाहिए। समागम से पूर्व पति-पत्नी के लिए वैचारिक शुद्धता का अभ्यास करना आवश्यक है।

पुंसवन संस्कार

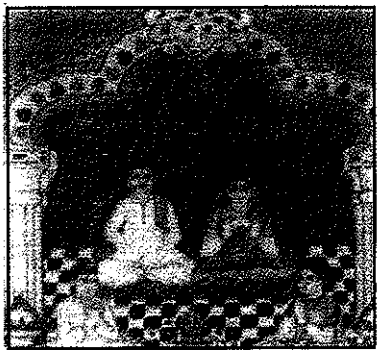

चित्र : 3.12

(ii) पुंसवन :- गर्भ धारण होने पर उसे पुष्टता प्रदान करने हेतु कुछ विशिष्ट औषधियों (बटारोह, बटांकुर, कुशों का अग्रभाग तथा सोमलता) को पीसकर, रस निकाल कर पत्नी को पिलावे। सोमलता यदि न मिले तो गुडची अथवा ब्राह्मी पीस कर पिलावे। इससे गर्भ को पुष्टता एवम् स्थायित्व प्राप्त होगा।

(iii) सीमन्तोन्नयन :- गर्भधारण के चौथे माह में पति द्वारा पत्नी के प्रति प्रेम एवम् उसकी प्रसन्नता हेतु उसका श्रृंगार करने का एवम् उपहार भेंट करने का विधान है।

(iv) जातकर्म तथा षष्ठी पूजन :- शिशु के उत्पन्न होने के पश्चात् नाल छेदन करना, बच्चे का प्रथम बार स्नान किया जाना, जीभ पर पिता द्वारा सोने की सलाई व शहद से 'ॐ' लिखना तथा बच्चे को शतायु होने का आशीर्वाद देना, गृह शुद्धि हेतु हवन-पूजन किए जाने आदि का विधान है।

(v) नामकरण :- ग्यारहवें, एक सौ एक वें दिन, दूसरे वर्ष अथवा उसके जन्म दिवस पर ग्रहों आदि के विचार से विधिपूर्वक राशिगत नामकरण किए जाने का विधान है। ग्रहों द्वारा प्रसारित आवृत्ति (frequency) के अनुरूप नामकरण किया जाना जातक का प्राकृतिक शक्तियों के सुर (Rhythm) में जीवन यात्रा को चलाने में सहायक है। इस प्रकार के नामकरण को आधुनिक भाषा में डिजिटल तकनीक (अंकगणितीय तकनीक) के समरूप समझा जा सकता है।

(vi) निष्क्रमण :- बच्चे के जन्म से तीसरे शुक्ल पक्ष की तृतीया को अर्थात् चौथे मास में बाहर शुद्ध वायु में शिशु को भ्रमण करवाना चाहिए।

(vii) अन्न प्राशन :- बच्चे के जन्म के छटे मास में घी, शहद, दही, भात मिलाकर बच्चे को थोड़ा-सा खिलाना चाहिए। अब से बच्चे को थोड़ी-थोड़ी अनाज से बनी वस्तुएं खिलायी जानी शुरू की जानी चाहिए।

(viii) चूड़ाकर्म :- चोटी सहित केश मुण्डन को चूड़ा कर्म कहते हैं। इस संस्कार को पहले वर्ष अथवा तीसरे वर्ष में किये जाने का विधान है।

(ix) कर्ण भेद अक्षर लेखन आरम्भ :- जन्म से तीसरे अथवा पाँचवें वर्ष के जन्म दिन पर कर्ण वेध करने का तथा अक्षर लेखन का प्रारम्भ किए जाने का विधान है। कर्ण भेदन को आधुनिक एक्युपंक्चर की विद्या से जोड़ कर समझा जा सकता है, जिससे शरीर के नाड़ी

तन्त्र का नियमन होता है।

(x) उपनयन एवम् यज्ञोपवीत :- आठ वर्ष से बारह वर्ष के मध्य योग्य बालकों का उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार किया जाना चाहिए।

(xi) वेदारम्भ :- उपनयन के दूसरे दिन से अथवा उसी वर्ष के भीतर वेदाध्ययन आरम्भ करा दिए जाने का विधान है।

(xii) केशान्त :- गुरुकुल में प्रवेश होने पर ब्रह्मचारी की जीवनचर्या सादगी से परिपूर्ण बनाने के लिए सिर को मुँडवा दिये जाने का विधान है, ताकि ब्रह्मचारी बनाव-श्रृंगार से दूर रहे। उसका एक मात्र उद्देश्य एकाग्रतापूर्वक ज्ञान अर्जन करना भर हो।

(xiii) समावर्तन एवम् बागदान :- पूर्ण विद्या प्राप्ति के पश्चात् युवक का परिवार में स्वागत किए जाने का तथा विवाह सम्बन्धी चर्चा किए जाने का विधान है।

(xiv) विवाह अथवा पाणिग्रहण :- प्रत्येक ग्रहस्थ का कर्त्तव्य है (i) राष्ट्र को उत्तम प्रजा देना, (ii) परिवार में रहते हुए भी तपस्वी जीवन जीना तथा (iii) ईश्वरोन्मुख बने रहने का प्रयास करना, जिससे मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। परिवार के सभी सदस्यों, गुरुजनों, संन्यासियों, आश्रमवासियों, ब्रह्मचारियों का भरण-पोषण करना गृहस्थ का उत्तरदायित्व है।

15. वानप्रस्थ एवम् 16. संन्यास :- इन दोनों का विस्तृत वर्णन आगामी पृष्ठों पर देखें।

❖ **अन्तिम कर्म (अन्त्येष्टि) :-** मृतक का दाह कर्म ज्येष्ठ पुत्र द्वारा करने का विधान है। अग्नि दाह द्वारा मृतक के शरीर को पंच-तत्त्वों में विलीन करना श्रेष्ठ विधा है। विद्युत द्वारा दाह करना भी उत्तम है।

अन्तिम कर्म (अन्त्येष्टि)

चित्र : 3.13

8. प्रमुख संस्कार :- उपरोक्त सोलह संस्कारों में जो विशेष रूप से मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं, उनकी कुछ अधिक जानकारी निम्न पंक्तियों में दी जा रही है।

इन सोलह संस्कारों में प्रमुख संस्कार हैं :- *(i)* गर्भाधान *(ii)* उपनयन *(iii)* दीक्षा एवम् पंच कर्म *(iv)* वेदाध्ययन *(v)* पाणिग्रहण *(vi)* आश्रम व्यवस्था।

(i) गर्भाधान संस्कार :- मानव समाज एवम् विश्व में ऐसी जीवात्माएं जन्म लें, जिससे सभी मानव तथा सभी प्राणी संतुष्ट रहें और उत्तरोत्तर विकास करते हुए 'मोक्ष' तक का मार्ग सरलता से तय कर लें। यही इस संस्कार का मूल उद्देश्य है। राम जैसी महान आत्माओं का धरती पर जन्म करवाने की विधा अपनाकर ही यह भारत सदैव शान्ति और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में विश्व गुरु रहा है। पति एवम् पत्नी के संयोग से पूर्व की तैयारी श्रेष्ठ संतान उत्पन्न करने हेतु परमावश्यक है। इस तैयारी में पुत्र अथवा पुत्री उत्पन्न करने हेतु स्त्री के मासिक आरम्भ के बाद के दिनों की गणना करनी होती है। विशिष्ट प्रकार की पूजा, अर्चना, व्रत, भोजन आदि कई प्रकार के नियमों का पालन करने का विधान है, इस पूरी प्रक्रिया से गुजरने से पति-पत्नी की सात्विकता से भरपूर मनोदशा की पृष्ठभूमि तैयार होती है, जिससे शंकर (आदि शंकराचार्य) एवम् स्वामी विवेकानन्द जैसी महान आत्माओं का इस पृथ्वी पर अवतरण सम्भव होता है और देश, समाज, राष्ट्र, मानव धर्म एवम् सम्पूर्ण प्राणी जगत का कल्याण होता है। *भर्तृहरि नीति शतक में कहा गया है -*

श्लोक :- ***स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतम्।***
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते [a] ।।

अर्थ :- इस परिवर्तनशील जगत में कितनी ही जीवात्माएं जन्म लेती हैं और समाज पर कोई सकारात्मक प्रभाव डाले बिना मर भी जाती हैं। जन्म लेना तो उसी जीवात्मा का श्रेष्ठ माना जाता है, जिसके उत्पन्न होने से देश, समाज, राष्ट्र, मानव धर्म और पूरे प्राणी जगत (वंश) की उन्नति (वृद्धि) हो। "विश्व को आज यह ज्ञान न होने के कारण ही जो जीवात्माएं जन्म ले रही हैं, उनमें पशुवत् प्रवृत्ति वाली सन्तानों की निरन्तर वृद्धि हो रही है। परिणामस्वरूप विश्व दिन-पर-दिन अपराधियों से भरता जा रहा है, जिस कारण से सर्वत्र हिंसा तथा अशान्ति बढ़ती जा रही है। ***यह संस्थान इस प्रकार के ज्ञान को प्रचारित करने का भरसक प्रयास करेगा।***

(ii) उपनयन संस्कार :- परमात्मा ने संसार को देखने के लिए हर मानव को दो आँखे दी हैं। सामान्य व्यक्ति संसार को राग (+) तथा द्वेष (–) भाव से देखता है, परन्तु गुरु अपने शिष्य को एक उप (तीसरी) नयन (आँख) प्रदान करके शिव

उपनयन संस्कार

चित्र : 3.14

a *भर्तृहरि नीति शतक श्लोक-32*

बनने की विधि का ज्ञान देता है। वस्तुतः शिव बनने का अर्थ है मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ-हानि के प्रति कोई प्रतिक्रिया न करना अर्थात् मन का मौन भाव निर्मित करने का अभ्यास करना अथवा सम (±) भाव का विकास करना। सभी मानव उत्पत्ति के समय शूद्रवत् अर्थात् सुसंस्कारों से रहित होते हैं, परन्तु ***गुरु आठ वर्ष की उम्र के हर बालक को दीक्षा देकर नित्य दैनिक संध्या अर्थात् पंच कर्म के अभ्यास द्वारा द्विज (श्रेष्ठ मानव) बनाने का प्रयास करता है।***

बालक को गुरु यज्ञोपवीत धारण करवा कर माता, पिता, गुरु, धर्म, राष्ट्र एवम् समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है, उसकी शिक्षा देता है। बालक से व्रत लिया जाता है, कि वह जीवन भर उनके प्रति अपने दायित्वों का पूरी तरह से निर्वहन करेगा। यज्ञोपवीत (जनेऊ) के धागे सतत् उसी याद को बनाए रखने हेतु गले में डाल कर रखे जाते हैं। ***जनेऊ के पहले धागे का अर्थ है माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, परिवार के वृद्ध जनों, गुरु जनों का आदर करना, उनकी आज्ञा मानना, उनके जीवन-यापन का उनकी मृत्यु पर्यन्त पूरा-पूरा प्रबन्ध करना। इसे पितृ-ऋण कहा जाता है। जनेऊ के दूसरे धागे का अर्थ है समाज, राष्ट्र तथा विश्व मानवता की तन, मन एवम् धन से निरन्तर सेवा करना, रोटी-कपड़ा-मकान तथा शिक्षा सब को प्राप्त हो; उसके लिए अनवरत प्रयास करते रहना। इसे देव-ऋण कहा गया है। तीसरे धागे का अर्थ है वेदों का ज्ञान, जो हमें ऋषियों ने दिया है उस ऋषि ऋण को समयानुकूल भाषा में भावी पीढ़ी को देना हमारा कर्त्तव्य है।*** इस प्रकार समाज से भ्रष्टाचार, अनैतिकता तथा अज्ञानता दूर होकर श्रेष्ठ समाज का निर्माण होता था, जो आज वैदिक समाज में नहीं हो रहा है, क्योंकि इस महान दीक्षा-संस्कार को हमने तिलाञ्जलि दे दी है। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है, कि हम परम आनन्द को छोड़कर क्षणिक सुखों से मोहित हो रहे हैं तथा अनन्त नारकीय यातनाओं की ओर भागे जा रहे हैं। परन्तु यह सब हमें दिखलायी नहीं पड़ रहा है।

इतना ही नहीं जब-जब समाज धन-लिप्सा एवम् काम-लिप्सा, झूठ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब-तब प्रकृति का रौद्र रूप प्रकट होने लगता है और लगता है, कि सूर्य से भारी मात्रा में *'न्यूट्रीनों'* कणों का उत्सृजन होता है। तब-तब सामूहिक पापों के फलस्वरूप विश्व में इस प्रकार की घटनाओं का जन्म होता है, जिससे महामारी, उल्कापात, हिमपात, सूर्य में तूफान आना, बज्रपात, चक्रवात अथवा अनेकों प्रकार से भीषण नरसंहार होता है। भगवान रुद्र (न्यूट्रीनों कणों में समाहित) अपने ग्यारह रूपों से पृथ्वी पर विनाश का कार्य करते हैं। वास्तव में समाज द्वारा किए गये सामूहिक पापों की स्मृतियाँ, तरंगों के रूप में आकाशगंगा के चित्त पटल (विष्णु लोक के सुपर कम्प्यूटर) पर रिकार्ड होती रहती हैं। उन्हीं पाप तरंगों के अनुरूप सामूहिक विनाश का ताण्डव पृथ्वी पर अनूदित (Translate) होता है, जिसे सामान्य जन न देख सकते हैं और न ही समझ पाते हैं, परन्तु हमारे पूर्वजों ने इन सबका सूक्ष्मता से अध्ययन किया था और ***''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'' सिद्धान्त के अनुसार हमें बतला भी गये हैं, कि सामूहिक पापों का परिणाम सामूहिक संहार के रूप में फलित होता है।*** उस संहार में निरपराध दिखने वाले लोग भी मारे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने पाप को होते देखकर भी विरोध नहीं किया था तथा उस पापकर्म में

उनकी मौन स्वीकृति थी। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में पापकर्म का फल *'कर्म के सिद्धान्त'* के अनुसार फलित होता है, ठीक उसी प्रकार से सामूहिक पाप का फल भी समाज के द्वारा भोगे बिना छुटकारा है ही नहीं।

रामायण एवम् महाभारत काल के दो स्पष्ट उदाहरण हमारे सामने हैं। प्रतीकों की भाषा में समझें तो रावण द्वारा सीताहरण एवम् दुःशासन द्वारा द्रोपदी का चीर हरण, उन्मुक्त काम-लिप्सा के उदाहरण हैं तथा रावण के अहंकार एवम् दुर्योधन के राज्य-लिप्सा के कारण ही रावण एवम् दुर्योधन का समूल विनाश हुआ था तथा दोनों कालों में भारी मात्रा में नरसंहार भी हुआ था। महाभारत काल के विनाश के पश्चात् भारत लम्बे काल तक के लिए वीर विहीन रहा तथा ज्ञानांधकार में डूब गया।

आज भी विश्व काम-लिप्सा की उसी उन्मुक्तता की ओर तेजी से बढ़ रहा है तथा धन-लिप्सा भी बेतहाशा बढ़ रही है। विश्व के सभी देश पश्चिमी उन्मुक्त संस्कृति की नकल करने में ही अपनी प्रगति मान रहे हैं। ये दोनों प्रकार की लिप्साएं मानव को अशान्ति की ओर धकेल रही हैं, यद्यपि इससे पश्चिमी जगत बेचैन तो हो रहा है और वह शान्ति के लिए भारत की ओर देख भी रहा है, परन्तु कंचन एवम् कामिनी की चकाचौंध में विश्व को यह बात अभी समझ में नहीं आ पा रही है।

भारतीय संस्कृति में निरंकुशता के लिए कोई स्थान नहीं है। ***संयम ही मानव जीवन का धर्म (कर्त्तव्य) है।*** धर्म पर चलने से ही मानव का कल्याण सम्भव है। ***मानव धर्म प्रशिक्षण संस्थान इस संयम जैसे विचार को नयी पीढ़ी तक विज्ञान के माध्यम से पहुँचाना चाहता है।***

दीक्षा संस्कार

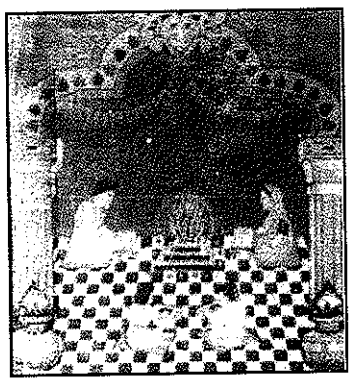

चित्र : 3.15

(iii) दीक्षा एवम् पंच कर्म अथवा दैनिक संध्या :- आठ वर्ष की आयु में हर योग्य बालक को कुलगुरु द्वारा पंच कर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। इसे दीक्षा देना कहा जाता था। पंच कर्म में हर बालक को पाँच कार्य नित्य करने होते थे :- *(a) अग्निहोत्र* - मक्खी, मच्छर, बैक्टीरिया आदि से वातावरण को मुक्त करके स्वाध्याय एवम् ध्यान-साधना के अनुकूल बनाना। *(b) तर्पण* - अपने मृत माता-पिता अथवा दादा-दादी की आत्माओं का आह्वान करके उनको कुछ जल, चावल, पुष्प आदि द्वारा विनम्र प्रार्थना करना, कि वे आत्माएं अपने पुत्र/पौत्र की दैनिक जीवन संघर्ष में सहायता व मार्गदर्शन करें। इतना करने से बालक को स्वतः आत्म-प्रेरणा द्वारा जीवन में आने वाली कठिनाइयों से जूझने की शक्ति मिलती रहती है तथा आवश्यक मार्गदर्शन भी मिलता है। *(c) 'स्वाध्याय'*- धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन, चिन्तन एवम् मनन जैसे रामायण, गीता, भागवत आदि पवित्र पुस्तकों को नियमपूर्वक पढ़ते रहने से मन पर अच्छे विचारों की छाप पड़ती है और बालक कर्म के सिद्धान्त तथा प्रकृति के अन्य महान सिद्धान्तों की जानकारी से प्रेरणा पाकर अपने जीवनकाल में कोई

अनैतिक कार्य नहीं करता और तब किसी भी संकट से ईश्वर उसकी रक्षा करता रहता है। *(d) जप* - गुरु द्वारा बतलाया गया किसी भी देवता का मंत्र जो शिष्य के जीवन की आवश्यकतानुसार होता है, उसका नित्य निश्चित संख्या में जप करना, ताकि जीवन संघर्ष में उसे शक्ति प्राप्त होती रहे। *(e) ध्यान* - कुलगुरु द्वारा बतलायी गयी ध्यान विधि द्वारा नित्य मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते रहना। यह कार्य कठिन तो है, परन्तु बालक का चित्त सरल होता है और वह यदि नियम से अभ्यास करता रहे, तो बड़ों की अपेक्षा उसे ध्यान सिद्धि शीघ्र हो सकती है। पूर्वकाल में जो बालक ऐसा करते थे, वे अपने जीवन में श्रेष्ठ (द्विज) चरित्रवान और शान्त चित्त मानव बनते थे। ऐसे व्यक्ति समाज की एक बहुत बड़ी सम्पत्ति होते थे, जिससे देश, समाज व राष्ट्र भी गौरवान्वित हो उठता था। **मानव को श्रेष्ठ बनाने में दीक्षा संस्कार का बड़ा भारी महत्त्व रहा है।** समाज में हर व्यक्ति के दो गुरु हुआ करते थे। पहला दीक्षागुरु, दूसरा शिक्षागुरु। सामान्यतया कुलगुरु ही दीक्षागुरु होते थे। राम, कृष्ण एवम् पाण्डवों के दो-दो गुरु थे। इनका क्रमशः नाम था वशिष्ठ-विश्वामित्र, गर्ग-संदीपन तथा कृपाचार्य-द्रोणाचार्य। शिक्षा गुरु का अर्थ है, जो गुरु रोजी-रोटी कमाने की शिक्षा देता है। अनेक परिवारों के **'गोत्र'**[a] उनके कुल गुरुओं के नाम पर ही रखे जाने की परम्परा रही है, जैसे - भरद्वाज, गौतम, कश्यप आदि। अंग्रेजों के राज्य होने तक कुलगुरु की परम्परा अनेक परिवारों में चलती रही है, परन्तु मैकाले की शिक्षा पद्धति से पूरा हिन्दू समाज भारतीय संस्कारों से विहीन हो गया है। अंग्रेजी भाषा, वेशभूषा एवम् पश्चिमी संस्कारों ने भारतीय संस्कारों के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी है। उसी कारण देश में चारित्रिक पतन दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा है।

वेदाध्ययन

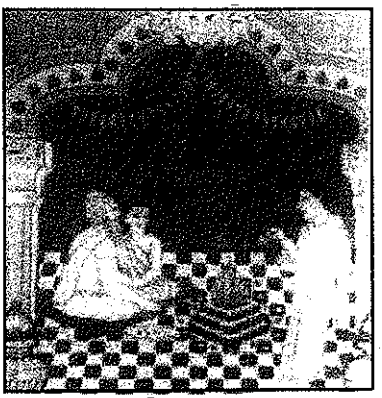

चित्र : 3.16

(iv) वेदाध्ययन :- वेदों में सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान भरा पड़ा है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करके छात्र अपने गृहस्थ एवम् सामाजिक जीवन को श्रेष्ठतापूर्वक बिताएं, वेदों के ज्ञान का, यही उद्देश्य है जो गुरुकुलों में निःशुल्क दिया जाता था। आज शिक्षा के क्षेत्र में जो महँगी शिक्षा पद्धति है, वह मात्र, धन कमाने की कला से सम्बन्ध रखती है। समाज श्रेष्ठ बने या न बने, यह सोच आज लुप्त-प्राय है। सब ओर पैसे के लिए आपाधापी है और लूटमार, शोषण, हत्या आदि द्वारा रातोंरात धनवान बनने की चेष्टा हो रही है। इस प्रकार समाज में बेचैनी, हिंसा व असुरक्षा इतनी बढ़ गयी है, कि कोई भी मानव सुरक्षित नहीं है। **सभी लोग धन एवम् वासना पूर्ति से आगे कुछ भी देखना नहीं चाहते।** ***इस प्रकार की सोच को 'ज्ञान-विज्ञान कार्यक्रम' द्वारा बदलने का प्रयास किया जायेगा।***

(v) पाणिग्रहण :- आज इस संस्कार की पवित्रता का मखौल बनाया जा रहा है। सर्वत्र

---

a पुस्तक के भाग-3 में *'गोत्र विज्ञान'* विषय पर लेख संलग्न है।

पाणिग्रहण संस्कार

चित्र : 3.17

इस दैवीय बन्धन को तोड़ कर स्वतन्त्र रूप से पशुवत सम्भोग सुख की चाह के कारण तलाकों एवम् अनेक प्रकार के रोगियों की एक लम्बी श्रृंखला तैयार हो गयी है। पश्चिमी देशों में इस संस्कार की गरिमा घटने के कारण अवैध सन्तानों का जन्म, भ्रष्टाचार, हिंसा, अपराध-वृत्ति एवम् नशीली दवाओं का व्यापार आकाश को चूम रहा है। संयम की हर सीमा तोड़ कर मानव पूरी तरह से पशुता पर उतर आया है। पशुवत् सम्भोग के द्वारा आनन्द की चाह कभी भी पूर्ण होने वाली नहीं है, बल्कि वह बढ़ती ही जाती है। इन्द्रिय सुखों में आनन्द नहीं है। ***मन का सदैव प्रफुल्लित रहना आनन्द कहलाता है।*** आनन्द सतत रहने वाला है, जबकि इन्द्रिय सुख क्षणिक होता है तथा इन्द्रियों द्वारा भोगे गये सुखों का परिणाम सदैव दुःख होता है। इन्द्रिय भोगों के पश्चात् स्नायु संस्थान इतना शिथिल हो जाता है, कि शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है। एड्स और कैन्सर जैसे रोगों से छुटकारा पाने के लाखों प्रयास जब विफल हो जाते हैं, तब मानव अवसाद से भर उठता है और अन्त में आत्महत्या तक कर लेता है। आज विदेशों में अन्तहीन कामुकता के परिणामस्वरूप अवसाद और आत्म हत्याओं की संख्या दिनोंदिन तेजी से बढ़ती जा रही है। ***यह संस्थान इन बुराइयों से उत्पन्न परिणामों के प्रचार-प्रसार का पूरा प्रयास करेगा।***

(vi) आश्रम व्यवस्था :- मानव जीवन की क्षमताओं, इच्छाओं और सामाजिक दायित्वों को ध्यान में रखते हुए चार आश्रमों द्वारा जीवन जीने का विधान बनाया गया है :-

(a) ब्रह्मचर्य :- बालकपन से लेकर 25 वर्ष की आयु तक ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करके मानव मस्तिष्क को परिपक्व बनाना तथा समाज, देश, जाति व धर्म के समुचित रक्षण एवम् पालन हेतु पूरे सौ शरद ऋतुओं *(जीवेम शरदः शतम्)* तक जीने की कला का ज्ञान अर्जन करना इस आश्रम का लक्ष्य है।

(b) गृहस्थ :- पाणिग्रहण संस्कार द्वारा श्रेष्ठ जीवात्मा को पृथ्वीलोक में जन्म धारण करवाना हर गृहस्थी का प्रथम कर्त्तव्य है। विदेशों में पशुवत सन्तान उत्पन्न करने की प्रथा उनके समाज का अल्पज्ञान का द्योतक है, जिसके द्वारा पश्चिमी समाज अनेक प्रकार के दुराचारों, हिंसा, लूटपाट, भ्रष्टाचार, आत्महत्याओं, अवसादों, तस्करी, मद्यपान, कुंठाओं, कुत्सित रोगों से बुरी तरह से ग्रस्त हो रहा है। वे विवाह संस्था को ही मानने से इन्कार करते हैं। पशु की भाँति ऊल-जलूल तरीके से सम्भोग द्वारा पशु जैसी सन्तान को जन्म दे देने में ही वे अपनी बुद्धि की श्रेष्ठता मानते हैं। अवैध सन्तानों की वहाँ बाढ़ आई हुई है। ऐसी सन्तानें पशुओं की भाँति व्यवहार करती हैं और पशु की भाँति ही अकाल मृत्यु से मर भी जाती हैं। इस सबके पीछे अन्तहीन भोग प्रवृत्ति है और दूसरा कारण है विवाह-विच्छेद (Divorce) प्रथा, जो पश्चिमी समाज की भारी उछृंखल प्रवृत्ति का द्योतक है। आज भारत भी उसी तरह की प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहा है।

❖ **श्रेष्ठ संतान उत्पन्न करने की विधि :-** यह बात सभी जानते हैं, कि गर्भ के दौरान गर्भवती स्त्री जिन विचारों का चिन्तन करती रहती है, उसके बच्चे पर उन विचारों का भारी प्रभाव पड़ता है, इसीलिए गर्भवती के लिए विशेष रूप से कहा गया है, कि वह प्रसन्न रहे, सात्विक एवम् पौष्टिक भोजन करे, देव मूर्तियों का चिन्तन तथा श्रेष्ठ विचारों वाले दृश्यों का अवलोकन एवम् मनन करे। धर्म शास्त्रों का पठन व मनन करती रहे, ताकि श्रेष्ठ विचारों वाली जीवात्मा ही उस गर्भ से जन्म ले। इस देश में पौराणिकों ने इस सम्बन्ध में भारत राष्ट्र के भविष्य को ध्यान में रखते हुए अनेक उपाय सुझाए हैं तथा ऐसी परम्परा डाली है, कि जिससे समाज में चरित्रवान जीवात्माएं ही जन्म लें। ***उनमें गर्भाधान संस्कार एक था। इसके अतिरिक्त पूरे कार्तिक मास में सभी स्त्री-पुरुषों को, खासकर नौजवान दम्पतियों को उपवास करने, नदी कुण्ड स्नान करने, भगवत् पूजन करने, भागवत् कथाओं का श्रवण व मनन करने का विधान है।*** यह परम्परा भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता (1947) तक तो काफी जोर-शोर पूर्वक चलती रही परन्तु अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से अब यह काफी क्षीण हो गयी है, केवल गाँवों में थोड़ी-बहुत बची हुई है। स्पष्ट है, कि इस विधान का पूरे मास तक जो स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत रखकर तथा भागवत् कथाओं में लीन रहकर मानसिक रूप से स्वच्छ और निर्मल हो चुकी होगी, वह यदि अग्रहण, पौष एवम् माघ मास में गर्भ धारण करेगी, तो स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ संतान को ही जन्म देगी। अग्रहण, पौष व माघ, ये तीन मास गर्भ धारण के श्रेष्ठ मास हैं, ताकि संतान की उत्पत्ति नौ माह पूरे होकर शीत ऋतु से पूर्व हो जाये। फिर जो शिशु एक शीत ऋतु स्वस्थ रहकर पार कर लेगा, उसकें दीर्घजीवी होने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। इसके विपरीत आचरण करने पर रोगी, अपराधी, उछृंखल एवम् कुत्सित विचारों वाली संतान के जन्म लेने की अधिक सम्भावना रहती है, जो समाज पर बोझ बनती है तथा समाज को प्रदूषित ही करती है। हर स्त्री एवम् समाज की यह बहुत बड़ी जिम्मेवारी है, कि वह स्वयम् के सुखी भविष्य के लिए, परिवार की सुख-शान्ति के लिए तथा देश, समाज व राष्ट्र के उत्थान के लिए उपरोक्त नियमों का कड़ाई से पालन करे। ***पशु तुल्य संतान उत्पन्न करके पूरे राष्ट्र का अपकार न करे। हमें सामाजिक उत्तरदायित्व को समझ कर अपने जीवन को संयमित करना आवश्यक है, नहीं तो इसका दण्ड सभी को भोगना पड़ता है।*** विपरीत आचरण के कारण ही आज भारत में बड़े-बड़े अमीरों के बालक कार चोरी तथा हत्या व लूटपाट करते पकड़े जा रहे हैं। भारतीय परम्पराओं को आज छोड़ा जा रहा है। ***इस भूल का अहसास कुछ पीढ़ियों के बाद होगा, तब तक अपराधों का ग्राफ काफी ऊँचा जा चुका होगा।***

(c) वानप्रस्थ :- पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर पचास से साठ वर्ष की आयु के पश्चात् वन की ओर प्रस्थान करने का विधान है। वस्तुतः वन जाने का अर्थ है मन को एकान्त में ले जाना अर्थात् मन को मौन भाव में ले जाना। सही अर्थों में मानव जीवन का यह मूल्यवान समय परिवार से हटकर समाज सेवा के लिए अर्पित किया जाना चाहिए अर्थात् मैं और मेरेपन के भाव से मुक्त होने का यह अति विशिष्ट काल है। मृत्यु से पूर्व की तैयारी का यह श्रेष्ठ समय है। ***जब सभी कुछ तन, मन एवम् धन एक झटके में मृत्यु द्वारा हरण कर लिया जाना निश्चित है, तो हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है, कि समाज से जो तन, धन***

एवम् ज्ञान कमाया है उसे समाज को लौटाए, क्योंकि 'गो सेवा' (समाज सेवा) मोक्ष प्राप्ति का सुलभ मार्ग है। इससे मात्र व्यक्ति का ही उद्धार नहीं होता, अपितु समाज का पिछड़ा वर्ग भी लाभान्वित होता है। कुछ प्रबुद्ध व्यक्ति समाज में धर्मोपदेशक का कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार समाज रूपी ब्रह्म की पूजा करता हुआ प्रत्येक वानप्रस्थी ईश्वर तक सरलता से पहुँच सकता है। आज अधिकांश व्यक्ति धन कमाने की हाय-हाय में एवम् परिवार में तथा नाती-पोतों में फँसे रहते हैं। जब तक उनका शरीर साथ देता है, वे परिवार के लिए उपयोगी रहते हैं, परन्तु अनुपयोगी होते ही परिवार के सदस्य उन्हें भार रूप समझने लगते हैं और तब वह वानप्रस्थी सुकर्म न करने के कारण तथा परिवार के मोह में फँसा होने से समाज रूपी ब्रह्म से एकाकार होने का शुभ अवसर खो देता है तथा तड़पता-छटपटाता हुआ इस संसार को बहुत कठिनाई से छोड़ता है अर्थात् उसकी मृत्यु दुःखद होती है।

(d) संन्यास :- संन्यास का अर्थ है व्यक्ति को पूर्ण मौन भाव की प्राप्ति। इस स्थिति की प्राप्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति ने यज्ञोपवीत संस्कार काल से ही मन को मौन करने का सतत् अभ्यास किया हो, नहीं तो वृद्धावस्था में अधिकांश परिवारों में आज वृद्धों की बड़ी दुर्गति देखी जा रही है। परिवार के सदस्य वृद्ध की बातों को अनसुना कर देते हैं और व्यक्ति अपने आप को अपमानित अनुभव करता हुआ मन ही मन घुटता रहता है, जिससे उसकी मनोदशा पागलों जैसी हो जाती है। भलाई इसी में है, कि जीवन के इस अन्तिम पड़ाव पर व्यक्ति परिवार के कार्यों में कतई हस्तक्षेप न करे तथा बिना माँगे कोई परामर्श भी न दे एवम् परिवार से पूर्ण विरक्त रहकर अपने मन को ईश्वर प्राप्ति में लगा दे, ताकि परमात्मा का चिन्तन व मनन करता हुआ मृत्यु के पश्चात् वह ईश्वर में लीन हो जाये।

चारों वर्णों का चित्रण
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक, सेवक

चित्र : 3.18

9. वर्ण व्यवस्था :- वैदिक धर्म की सबसे कमज़ोर कड़ी यह वर्ण व्यवस्था रही है, जिस पर सदियों से प्रहार होता रहा है। भारत में बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव का कारण भी वर्ण व्यवस्था थी और आर्य धर्मियों का धर्मान्तरण का कारण भी यही रहा है। आज आतंकवाद विश्व में फैला है, उसके पीछे भी इस व्यवस्था का बहुत बड़ा योगदान है।

यद्यपि आर्य शास्त्रों में कहा गया है

-"जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते"।

अर्थ :- हर मानव जन्म काल के समय शूद्रवत् ही होता है। उसे श्रेष्ठ मानव बनाने हेतु संस्कारित किया जाता है, तभी वह द्विज (श्रेष्ठ) बनता है। दीक्षा के समय गुरु द्वारा यह सिखलाया जाता है, कि मानव जीवन का लक्ष्य **'मोक्ष'** की प्राप्ति है, न कि इन्द्रिय भोग तथा

इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उन सभी साधनों की सीख दीक्षाकाल में ही दे दी जाती है, जिस पर चलकर मानव अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। इसे संस्कारित करना कहा जाता है।

'शूद्र' शब्द का अर्थ है, जो अनुशासनपूर्ण जीवन-यापन न करता हो अथवा जो चरित्रवान न हो। जिसकी वृत्तियाँ उन्मुक्त अर्थात् असात्विक हों अथवा जो ईश्वर पर विश्वास न करता हो। *मनुस्मृति में कहा गया है -*

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विज कर्मणः [a]।।

इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वर्ण में गिने जाने वाला व्यक्ति भी यदि प्रातःकाल एवम् सायंकाल की संध्या न करता हो ***अर्थात् अनुशासन पूर्ण जीवन न जीता हो, तो उसे शूद्र कुल में गिना जाना चाहिए। इस श्लोक का संकुचित शाब्दिक अर्थ न लेकर विशाल परिप्रेक्ष में ही अर्थ करना न्यायसंगत होगा। शास्त्रों के भाव को न समझ कर भूतकाल में पण्डितों ने जो शाब्दिक अर्थ किये, उससे मनु के विचारों को सही संदर्भ में नहीं समझा गया, परिणामस्वरूप मनुवाद के प्रति समाज में भारी रोष एवम् भ्रान्ति फैली है, जिस कारण से हिन्दू समाज का बड़ा अहित हुआ है।***

गीता शास्त्र में भी कहा गया है -

"चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" [b]

अर्थ :- मेरे द्वारा गुणों (वृत्तियों) और कर्मों के आधार पर चारों वर्णों की रचना की गयी है।

शास्त्रों द्वारा इतने स्पष्ट निर्देश के बावजूद भी यह विषय आर्यधर्म के लिए सिरदर्दी का कारण बना हुआ है। जाबाल, बाल्मीकि, वेदव्यास जैसे महान ऋषियों ने वैदिक धर्म को जो योगदान दिया है, वह अभूतपूर्व है, यद्यपि ये तीनों शूद्र-कुल में जन्मे थे। नारद भी दासी पुत्र थे। इतिहास में घटित इन तथ्यों से वैदिक धर्म आलोकित है, परन्तु फिर भी एक लम्बे समय से गृहस्थियों, खासकर वानप्रस्थियों ने अपने धर्म का निर्वहन करना बन्द कर दिया है, इस कारण समाज, देश तथा वैदिक धर्म का बहुत अधिक अपकार हुआ है। ***वानप्रस्थी यदि निष्काम सेवा द्वारा गरीबों, कमज़ोर वर्गों एवम् शूद्रों के उत्थान हेतु तन-मन एवम् धन समर्पण किए होते, तो भारतीय समाज को आज जो हिंसा का तांडव देखना पड़ रहा है, वह कदापि न देखना पड़ता।*** वैदिक धर्म अपने आप में श्रेष्ठ व्यवस्थाओं से भरपूर है, उनके अनुपालन में गड़बड़ी के कारण आर्थिक ऊँच-नीच से छुआछूत, घृणा और दुर्व्यवहार का प्रादुर्भाव हुआ है और आज सनातन धर्म को मानने वाला समाज छुआछूत की बीमारी से ग्रस्त है, जिसका परिणाम भारी धर्मान्तरण के रूप में पिछले 2600 वर्षों से भी अधिक समय से होता आ रहा है और आतंकवाद भी बहुत कुछ इसी का प्रतिफल है। धनिक वर्ग यह बात नहीं समझ पा रहा है, कि अधिक धन घोर अशान्ति का कारक है और अन्त में नारकीय जीवन की ओर ले जाता है तथापि वैदिक धर्मानुयायी सात पीढ़ी तक के लिए धन इकट्ठा कर लेने एवम् उसका

---

a *मनुस्मृति-2/103*
b *श्रीमद्भगवद् गीता-4/13*

प्रदर्शन करने की हवश से अभिभूत हैं तथा समाज व राष्ट्र को देने में संकोच करते हैं। यह घोर पाप है तथा प्रकृति के प्रथम सिद्धान्त अर्थात् 'चक्र के सिद्धान्त' के प्रतिकूल है। इस सिद्धान्त को तोड़ने वाले को भगवान श्रीकृष्ण ने चोर की संज्ञा दी है [a]। ***मानव धर्म प्रशिक्षण संस्थान इस विचार को नयी पीढ़ी तक प्रचारित करना चाहता है।***

हरिः ॐ तत् सत् !

---

a **इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।** *(गीता-3/12)*
अर्थ :- यज्ञ (निष्काम सेवा) द्वारा उन्नत हुए देवता (समाज) तुम्हारे लिये बिना मांगे ही प्रिय भोगों को देंगे, उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष इनको बिना दिये ही भोगता है, ***वह निश्चय ही चोर (स्तेन) है।***